



ओ३म्  
दूरवर्ती विद्यार्थी  
साप्ताहिक



# आर्य मर्यादा

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रमुख पत्र

वर्ष: 76, अंक : 14 एक प्रति 2 : रुपये

कुल पृष्ठ : 8

रविवार 7 जुलाई, 2019

विक्रमी सम्वत् 2076, सृष्टि सम्वत् 1960853120

दयानन्दाब्द : 195 वार्षिक शुल्क : 100 रुपये

आजीवन शुल्क : 1000 रुपये

दूरभाष : 0181-2292926, 5062726

E-mail: [apspunjab2010@gmail.com](mailto:apspunjab2010@gmail.com),

[www.aryapratinidhisabha.org](http://www.aryapratinidhisabha.org)

वर्ष-76, अंक : 14, 4-7 जुलाई 2019 तदनुसार 23 आषाढ़, सम्वत् 2076 मूल्य 2 रु०, वार्षिक 100 रु० आजीवन 1000 रु०

## जितना तुझे जानते हैं उतना पूजते हैं

ले०-स्वामी वेदानन्द ( दयानन्द ) तीर्थ

तं पृच्छन्तोऽ वरासः पराणि प्रत्ना त इन्द्र श्रुत्यानु येमुः।  
अर्चामसि वीर ब्रह्मवाहो यादेव विद्म तात्त्वा महान्तम्॥

-ऋ० ६।२१।६

**शब्दार्थ-**हे इन्द्र = परमेश्वर! तम् = उस तुझको पृच्छन्तः = पूछते हुए, जिज्ञासा करते हुए **अवरासः** = अवर, बाद में होने वाले हम जिज्ञासुजन **ते** = तेरे **प्रत्न** = पुरातन और **पराणि** = उत्तम कर्मों के **अनु** = अनुकूल **श्रुत्या** = वेदानुसार **येमुः** = संयम करते हैं। हे **वीर** = वीर! **ब्रह्मवाहः** = वेदधारी हम लोग **यात्+एव** = जितना ही **विद्म** = जानते हैं, **तात्** = उतना ही **त्वा+महान्तम्** = तुझ महान् को **अर्चामसि** = पूजते हैं।

**व्याख्या-**भगवान् सदा से है, भगवान् का सृष्टि-रचनादि कर्म भी सदा से है। निःसन्देह जीव सदा से है, किन्तु शरीर-संयोग के कारण व्यक्ति विशेष के रूप में तो वह अवर है, पश्चाद्भावी है। उसकी अपेक्षा प्रवाह से चली आती सृष्टि तथा उसमें काम करने वाले नियम पुराने हैं। यह सृष्टि और उसमें कार्य करने वाले नियम ही भगवान् के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न कराते हैं। जिज्ञासा उत्पन्न होते ही जिज्ञासु पहले भगवान् के आदेश को जानना चाहता है। उसके नियम-सनातन नियम-तथा वेद उनका उपदेश व्यक्त करके बतला रहे हैं, अतः जिज्ञासु उनके अनुसार अपने-आपको नियन्त्रित करता है, बाँध लेता है, अर्थात् यदि उस महान् भगवान् को पाने की अभिलाषा है तो भगवान् के नियमानुसार संयमी जीवन बनाओ। भगवान् यह बता रहे हैं कि सृष्टि-नियम संयम का उपदेश करते हैं, उच्छृङ्खलता या विलासिता का प्रचार नहीं करते। इस प्रकार संयम का जीवन धारण करने से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है। ज्ञान बढ़ते-बढ़ते मनुष्य **ब्रह्मवाह** = वेदधारी तथा स्वयं ब्रह्म को धारण करने वाला बन जाता है और **'ब्रह्मवाहो यादेव विद्म'** = ब्रह्मधारी जितना ही जानते हैं **'अर्चामसि तात् त्वा महान्तम्'** = उतना तुझ महान् को हम पूजते हैं।

जितना स्वाध्याय तथा विचार करते हैं, उतना ही निश्चय होता है कि-  
**'नहि नु ते महिमनः स्वादे समस्य न मघवन् मघवत्त्वस्य विद्म'** [ऋ० ६।२७।३] = प्रभो! न तो तेरी महिमा के तुल्य और न तेरे धन के तुल्य किसी को जानते हैं और-**'पतिर्बभूथासमो जनानामेको विश्वस्य भुवनस्य राजा'** [ऋ० ६।३६।४]-तू संसार का अनुपम पालक है और समस्त संसार का अकेला राजा है।

जो समस्त संसार का राजा है, समस्त लोक-लोकान्तरों का पालक है, जो सबसे महान् है, जिसके समान अन्य कोई भी महान् नहीं है, समस्त कल्याणों की प्राप्ति के लिए उस महतो महान् की अर्चा-पूजा करनी चाहिए।

( स्वाध्याय संदोह से साभार )

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतःसमाः।  
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

-यजु० ४०.२

**भावार्थ-**मनुष्यों को चाहिए कि वैदिक कर्म, सन्ध्या, प्रार्थना, उपासना, वेदों का स्वाध्याय, महात्मा सन्त जनों का सत्संगादि सदा करता हुआ, सौ वर्ष पर्यन्त जीने की इच्छा करे। ब्रह्मचर्यादि साधन ही पुरुष की आयु को बढ़ाने वाले हैं। व्यभिचारी, दुर्गचारी, ब्रह्मचारी नहीं बन सकता इसलिए दुर्गचाररूप पाप कर्म त्यागकर, ब्रह्मचर्यादि साधनपूर्वक वैदिक कर्म करता हुआ पुरुष, चिरञ्जीव बनने की इच्छा करे। पुरुष कुछ कर्म किये बिना नहीं रह सकता, अच्छे कर्म न करेगा तो बुरे कर्म ही करेगा। इसलिए वेद ने कहा है, पुरुष अच्छे कर्म करे, तब पाप कर्मों से पुरुष का लेप कभी नहीं होगा। पाप कर्मों से छूटने का और कोई उपाय नहीं है।

असुर्या नाम ते लोका अधेन तमसावृताः।  
तांस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महानो जनाः॥

-यजु० ४०.२

**भावार्थ-**वे ही मनुष्य, असुर दैत्य, राक्षस तथा पिशाच आदि हैं, जो आत्मा में और जानते, वाणी से और बोलते और करते कुछ और ही हैं। ऐसे लोग कभी अज्ञान से पार होकर परमानन्द रूप मुक्ति को नहीं प्राप्त हो सकते। ऐसे पापी पुरुष अपने आत्मा के हनन करने हारे वेद में आत्महत्यारे कहे गए हैं। दूसरे वे भी आत्महत्यारे हैं, जो पिता की न्याईं सबके पालन-पोषण करने हारे समस्त संसार के कर्ता-धर्ता सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर को नहीं मानते न उसकी भक्ति करते, न ही उसकी वैदिक आज्ञा के अनुसार अपना जीवन बनाते हैं, केवल विषय भोगों में फँसकर, सारा जीवन उन भोगों की प्राप्ति के लिए लगा देना पामरपन नहीं तो और क्या है? ईश्वर को न मानना ही सब पापों से बड़ा पाप है। ऐसे महापापी नास्तिक पुरुषों की सदा दुर्गति होती है। ऐसी दुर्गति देनेहारी नास्तिकतारूपी राक्षसी से सबको बचना और बचाना चाहिए।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनहेवा आपुवन् पूर्वमर्षत्।  
तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्स्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥

-यजु० ४०.४

**भावार्थ-**वह परमात्मा अज्ञानी मूर्खों की दृष्टि से चलता है, वास्तव में वह सब जगत् को चला रहा है, आप कूटस्थ निर्विकार अटल होने से कभी स्व स्वरूप से चलायमान नहीं होता। जो अज्ञानी पुरुष, परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध हैं, वे इधर-उधर भटकते हुए भी उसको नहीं जानते। जो विवेकी पुरुष ईश्वर की वैदिक आज्ञा के अनुसार अपने जीवन को बनाते, सदा वेदों का और वेदानुकूल उपनिषदादिकों का विचार करते, उत्तम महात्माओं का सत्संग और उनकी प्रेमपूर्वक सेवा करते हैं, वे अपने आत्मा में अति समीप ब्रह्म को प्राप्त होकर, सदा आनन्द में रहते हैं। परमात्मदेव को सब जगत् के अन्दर बाहिर व्यापक सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी जानकर कभी कोई पाप न करते हुए, उस प्रभु के ध्यान से अपने जन्म को सफल करना चाहिए।

## धर्मशास्त्र और मानव-धर्म

ले.-श्री मोहनानन्द मिश्र

धर्म व्यक्ति को जीवित रहने की शक्ति प्रदान करता है। यह प्रवृत्ति समस्त जीवों में है। समाज में रहकर व्यक्ति इस मनोभाव को स्वस्थता प्रदान करता है। धर्मशास्त्र से तात्पर्य है व्यक्ति के भीतर निहित रूढ़ि और आधिदैविक दृष्टिकोण की प्रधानता। किन्तु जीवन में इसका सदैव बहिष्कार ही दृश्यमान होता है। यह भी सत्य है कि मनुष्य सर्वदा धर्मशास्त्र के नाम पर अपने-आप को भी भूलता रहा है। धर्म-शास्त्र की व्यावहारिकता को सदैव इन कर्मों में बाँधा गया है—(क) परमात्मा को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पाप से बचना। (ख) कर्मनिष्ठ अथवा कर्तव्य-परायणता। (ग) लोकहित अथवा विश्व-सेवा। इन अभ्युक्तियों से धर्म जीवन प्राप्त करता है। इससे समाज घृणा-रहित, शोषण-रहित और पशुत्व के आवरण से मुक्त होता है। पूर्वमीमांसा के रचयिता जैमिनि महर्षि ने कहा है:—

“**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।**”

वेद जिसकी घोषणा करता है वह धर्म है। वैशेषिक दर्शन के निर्माता कणाद ने कहा है:—

**यतोऽभ्युदनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः।**

धर्म वह है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि होती है। जो जगत् को धारण करता है वह धर्म है और धर्मशास्त्र वस्तुतः इस विद्या की व्याख्या है। धर्म संसार की स्थिति है, सिद्धि है और व्याख्या है। मनु ने धर्म को अनेक लक्षणों से गुम्फित किया है:—

**धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय-निग्रहः।**

**धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ ( मनु० ६।६२ )**

धैर्य, क्षमा, मन का निग्रह, चोरी न करना, बाहर-भीतर की शुद्धि, इन्द्रियों का संयम, सात्त्विक बुद्धि, अध्यात्मविद्या, यथार्थ भाषण और क्रोध न करना—ये धर्म के दस लक्षण हैं। धर्मशास्त्र धर्म की इन मान्यताओं की अभिव्यक्ति करता है। ऋग्वेद में धर्म को ऊँचा उठाने वाला कहा गया है। ऐतरेय में इसे परलोक-सुधारक माना गया है। छान्दोग्य में धर्म को विशिष्ट कर्तव्य की गुहा में पनपाया गया है। गीता में इसे दैवी सम्पत्ति की ज्योत्स्ना में प्रकाशित माना गया है। मेधातिथि ने धर्म को वर्णधर्म, आश्रम धर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म और गुणधर्म के नाम से सम्बोधित किया है। महाशय कुल्लूक भट्ट ने ‘श्रुतिप्रमाणको धर्मः’

कहा है। भागवत पुराण भी इसकी पुष्टि करता है:—

**वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्त-द्विपर्ययः।**

**वेदो नारायणः साक्षात्स्व-यम्भूरिति शुश्रुम॥**

( भाग० ६।१।४० )

श्रुति जिन कर्मों का विधान करती है, उन्हें धर्म कहते हैं और जिनका निषेध करती है वे अधर्म हैं। वेद साक्षात् भगवान् हैं, वे उनके सहज श्वासभूत हैं—ऐसा हमने सुना है।

प्रत्येक धर्म का मूल उद्देश्य मानवता का उद्धार है, किन्तु धर्मशास्त्र के प्रत्यक्ष परिवेश में रहने के बाद भी मनुष्य इस दर्शन से पराङ्मुख रहा है। यहां तक कि समाज-विरोधी प्रवृत्तियों को उत्पन्न करने में धर्मशास्त्र का उपयोग किया गया। कभी भी धर्मशास्त्र को जीवन के सच्चे धरातल पर नहीं उतारा गया।

बौद्धिक शक्ति से मनुष्य मन में कुछ अन्य और व्यवहार में इसके विपरीत प्रतीत होता है। यह भी देखा गया है कि बुद्धिमान् मनुष्य का धर्म से सम्बन्ध है, किन्तु धर्मशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत सामान्य जनजीवन धर्म के मूल को अभी भी अपने जीवन में स्थिर किये हुए है।

यह तथ्य है कि धार्मिक मनोभाव का प्रणयन सात्त्विक सामाजिक मानवधर्म के उपयोग पर अवलम्बित है। धर्मशास्त्र वस्तुतः प्रबुद्ध सामाजिक अनुशासन की आधार-शिला है। इससे सामाजिक व्यवहार जीवनी-शक्ति प्राप्त करता है। धर्मशास्त्र में अलौकिक कथाओं का सहारा लेकर लौकिक जीवन को सुन्दर बनाने की चेष्टा की गई है। मानवता को स्वरूप देने की अभियोजना की गई है। लौकिक जीवन में प्रेय की प्राप्ति के लिए ही धर्मशास्त्र को स्वीकारा गया है। मनुष्य ने स्वेच्छा से और अलौकिक प्रेरणा से धर्म को माना है। धर्मशास्त्र वस्तुतः इसी मानव-समाज का दुर्लभ रत्न है। हिन्दू कर्मवाद भी इसी सत्य की व्याख्या है। विकास की जिस अवस्था से मानव प्रवाहित हो रहा है, वह धार्मिक प्रक्रियाओं के आवर्त से मुक्त नहीं है। भौतिक सुखों पर विजय-प्राप्ति से ही धर्म के ऊपर व्यक्ति अपनी एकात्मकता स्थापित कर सकता है। हिन्दूधर्म यह मानता है कि कामनाओं के विसर्जन से सर्जन का नया क्षितिज आलोक की रहस्यमयता में डूबा रहता है।

इस धार्मिक विश्वास ने शताब्दियों तक इस देश को एक नवीन दिशा दी है। धर्मशास्त्र के प्राचीन उपयोग बदलते रहे हैं।

परिवर्तमान मानव-समाज का धर्म भी कार्यान्वयन में काया पलटने की रीति में सीमित हो गया। मूलतः मानव एक ही केन्द्र की परिधि है। प्राचीन मानवीय मूल्यों तथा नवीन मानवीय मूल्यों में संघर्ष होता रहा। मानव को मानवोचित कार्य की सीमा में न रखकर तात्कालीन समाज की शृङ्खला में आबद्ध किया गया। अतः आज समाज धर्मशास्त्र और मानवधर्म के बीच सन्तुलन नहीं बना पा रहा है। समाज दुर्बल हो गया है। यह दुर्बलता इतनी बढ़ गई है कि आज मानव अपनी मानवीयता की सीमा से च्युत हो रहा है। धार्मिक आडम्बरवाद के कारण जीवन का दुरुपयोग हुआ। यही बात यूरोप में भी कुछ दिनों तक थी, लेकिन उसकी तुलना भारतीय धर्म और परम्परा के क्रम में ठीक उसी प्रकार नहीं है। यहां की स्थिति यहां के प्राकृतिक ढाँचे के अनुकूल है। समाज भी उन प्राचीन अवशेषों को नये स्तर से देख रहा है। आज तर्क और ज्ञान के विस्तार के कारण धार्मिक रूढ़िवादिता का हास हो रहा है। ज्ञान की सीमा में प्रत्येक भौतिक सत्य को बाँधा जा रहा है। मानव आज किसी भी क्रिया के उपयोग को उसी सन्दर्भ में ग्रहण नहीं कर रहा है।

भारतीय इतिहास में धार्मिक मूल्यों के आधार भी बदलते रहे हैं। बौद्धों, जैनों और इस्लाम के अभ्युदय के परिवर्तन के काल रहे हैं। पाश्चात्य देशों में परिवर्तन का रूप अपना था। इसमें धर्म की व्यापकता को अनिवार्य सामग्री के साथ रखा है। धार्मिक विश्वास को सामाजिक रूप से अलग इकाई के क्रम में गूँथा गया है।

यह भी सत्य है कि एक न्यायपूर्ण समाज के संगठन में इस वृत्ति का सहयोग उपेक्षणीय नहीं रहा है। धर्मशास्त्र का दुरुपयोग तब होने लगा, जब प्रत्येक प्रक्रिया को धार्मिक तत्त्वों से जोड़ा जाने लगा। मानव के सहज और स्वाभाविक विवेक को चुनौती दी गई। व्यक्तिगत दृष्टिकोण को उभारा गया। धर्मशास्त्र को एक वर्ग-विशेष के पास सुरक्षित माना गया। इस्लाम के धर्मशास्त्र में भी व्यक्ति और अल्लाह को एक बिन्दु के अलग-अलग प्रतीक के रूप में स्वीकार किया गया है। धर्मशास्त्र मानव को उत्थान के चरमशीर्ष पर ले जाता है। इस देश की परम्परा ही “वसुधैव कुटुम्बकम्” की है।

मानव-धर्म की स्तुति है। ऋग्वेद में मानव धर्म की अवधारणा की गई है—

“**विश्वदानीं सुमनसः स्याम**”

“हम सर्वदा प्रसन्न रहें,” क्योंकि मनः प्रसाद से समस्त आपदाएँ शान्त हो जाती है।

नीति से मुक्त रहना ही मानव-धर्म है। मानव-मानव की रक्षा करे, यही मानवधर्म का मूलमन्त्र है। मानव की प्रतिष्ठा से ही समाज में धर्मशास्त्र के स्वरूप का बोध हो सकता है। अनैतिक संकट से मानवजाति को बचाने के लिए धर्मशास्त्र और मानव-धर्म को नये सिरे से जीवन में प्रकट करना है। धार्मिक विश्वासों को आधुनिक समाज की आवश्यकता के अनुकूल स्थिर कर दिया जाये। मानवधर्म की व्यवस्था को कायम रखे बिना धर्मशास्त्र का उपयोग एक प्रहसन है। मानवजाति को अनैतिकता के गर्त से मुक्त करने के लिए धर्मशास्त्र के स्रोत को प्रवाहित करना होगा। ‘बिनु भय प्रीति न होइ गुसाँई’ की उक्ति को मानना होगा। मानव-समाज की रक्षा का एकमात्र यही संबल है।

आरम्भ से ही धर्म का मार्ग दुर्गम है। आज का समाज भी पहले की अपेक्षा जटिल हो गया है। सामाजिक निन्दा तथा प्रशंसा की प्रवृत्ति को धर्मशास्त्र से रोका जा सकता है। जब धर्म ही सब कुछ है तो इसे मानव-सत्त्व के वाहक के रूप में स्वीकार कर लेना ही अच्छा है। किसी भी राष्ट्र को धर्मशास्त्र के प्रति कठोर नहीं होना चाहिये। धार्मिक मूल्यों में सदैव समानता है। साथ ही धार्मिक दृष्टिकोण में भी एकरूपता है। धर्म का मूल लक्ष्य जीवन को समुन्नत बनाना है। मानव को शान्ति के गृह में लाकर निवास प्रदान करना है। मानवजाति का सार्वजनीन व्यवहार एक है। मानवधर्म का स्तर भी विश्वव्यापी है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए भी कोई देश धर्म विशेष के साथ जुड़ जाता है, तो इससे मानवधर्म की क्षति होती है। भारत में सब धर्मों को समान महत्त्व दिया गया है। इससे यहाँ का सांस्कृतिक संसार जीवित रहेगा—

**सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।**

**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।**

इसमें सबके लिए शुभकामना की गई है।

धर्मशास्त्र का उपयोग तभी सफल हो सकता है, जब धर्म का

( शेष पृष्ठ 7 पर )

## आचार एवं अनाचार क्या है?

आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द जी सरस्वती ने स्वलिखित अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में मनुष्य जीवन से सम्बन्धित अनेक दृष्टिकोणों पर सार्थक विवेचन किया है। ईश्वर का स्वरूप क्या है? शिक्षा पद्धति कैसी होनी चाहिए? माता-पिता का सन्तान के प्रति क्या कर्तव्य है? मनुष्य मुक्ति कैसे प्राप्त कर सकता है? इसी के अन्तर्गत महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश के दशवें समुल्लास में आचार एवं अनाचार विषय पर प्रकाश डाला है। वर्तमान में अनाचार के कारण मनुष्य के जीवन का पतन हो रहा है। मनुष्य इस बात से अनभिज्ञ है कि कौन सा कर्म आचरण करने योग्य है और कौन सा कर्म आचरण में नहीं लाना चाहिए? इसी अज्ञानता के कारण आज मनुष्य अपनी संस्कृति और सभ्यता का त्याग करता हुआ पाश्चात्य संस्कृति की ओर बढ़ रहा है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने स्मृतिग्रन्थों को आधार बनाकर इस विषय को स्पष्ट किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी आचार एवं अनाचार की परिभाषा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि-

अब जो धर्मयुक्त कामों का आचरण, सुशीलता, सत्पुरुषों का संग और सद्विद्या के ग्रहण में रूचि आदि आचार और इनके विपरीत अनाचार कहाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी मनु महाराज द्वारा रचित मनुस्मृति के श्लोकों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि-

मनुष्यों को सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिसका सेवन रागद्वेषरहित निद्वान् लोग नित्य करें, जिसको हृदय अर्थात् आत्मा से सत्य कर्तव्य जानें, वही धर्म माननीय और करणीय है ॥ १ ॥ क्योंकि इस संसार में अत्यन्त कामात्मता और निष्कामता श्रेष्ठ नहीं है। वेदार्थज्ञान और वेदोक्त कर्म ये सब कामना ही से सिद्ध होते हैं ॥ २ ॥ जो कोई कहे कि मैं निरिच्छ एवं निष्काम हूँ वा हो जाऊँ तो वह कभी नहीं हो सकता क्योंकि सब काम अर्थात् यज्ञ, सत्यभाषणादि व्रत, यम नियमरूपी धर्म आदि संकल्प ही से बनते हैं ॥ ३ ॥ क्योंकि जो-जो हस्त, पाद, नेत्र, मन, आदि चलाए जाते हैं वे सब कामना ही से चलते हैं। जो इच्छा न हो तो आंख का खोलना और मीचना भी नहीं हो सकता ॥ ४ ॥ इसलिए सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा ऋषिप्रणीत शास्त्र, सत्पुरुषों का आचार और जिस-जिस कर्म में अपना आत्मा प्रसन्न रहे अर्थात् भय, शंका, लज्जा, जिस में न हो उन कर्मों का सेवन करना उचित है। देखो! जब कोई मिथ्याभाषण, चोरी आदि की इच्छा करता है तभी उसके आत्मा में भय, शंका, लज्जा अवश्य उत्पन्न होती है इसलिए वह कर्म करने योग्य नहीं ॥ ५ ॥

मनुष्य सम्पूर्ण शास्त्र, वेद, सत्पुरुषों का आचार, अपने आत्मा के अविरोद्ध अच्छे प्रकार विचार कर ज्ञान नेत्र करके श्रुति प्रमाण से स्वात्मानुकूल धर्म में प्रवेश करे ॥ ६ ॥ क्योंकि जो मनुष्य वेदोक्त धर्म और जो वेद से अविरोद्ध स्मृत्युक्त धर्म का अनुष्ठान करता है वह इस लोक में कीर्ति और मर के सर्वोत्तम सुख को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ श्रुति वेद और स्मृति धर्मशास्त्र को कहते हैं। इन से सब कर्तव्याकर्तव्य का निश्चय करना चाहिए ॥ ८ ॥ जो कोई मनुष्य वेद और वेदानुकूल आस्रग्रन्थों का अपमान करे उसको श्रेष्ठ लोग जातिबाह्य कर दें। क्योंकि जो वेद की निन्दा करता है वही नास्तिक कहाता है ॥ ९ ॥ इसलिए वेद, स्मृति, सत्पुरुषों का आचार और अपने आत्मा के ज्ञान से अविरोद्ध प्रियाचरण, ये चार धर्म के लक्षण अर्थात् इन्हीं से धर्म लक्षित होता है ॥ १० ॥ परन्तु जो द्रव्यों का लोभ और काम अर्थात् विषयसेवा में फंसा हुआ नहीं होता उसी को धर्म का ज्ञान होता है। जो धर्म को जानने की इच्छा करें उनके लिए वेद ही परम प्रमाण है ॥ ११ ॥

इसी विषय को और स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द जी सरस्वती

आगे लिखते हैं कि मनुष्य का सही मुख्य आचार है कि जो इन्द्रियां चित्त का हरण करने वाले विषयों में प्रवृत्त कराती हैं उनको रोकने में प्रयत्न करें। जैसे घोड़ों को सारथि रोक कर शुद्ध मार्ग में चलाता है इस प्रकार इन को अपने वश में करके अधर्ममार्ग से हटा के धर्ममार्ग में सदा चलाया करे, क्योंकि इन्द्रियों को विषयासक्ति और अधर्म में चलाने से मनुष्य निश्चित दोष को प्राप्त होता है और जब इनको जीतकर धर्म में चलाता है तभी अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जैसे अग्नि में इन्धन और घी डालने से बढ़ता जाता है वैसे ही कामों के उपभोग से काम शान्त कभी नहीं होता किन्तु बढ़ता ही जाता है। इसलिए मनुष्य को विषयासक्त कभी न होना चाहिए। जो अजितेन्द्रिय पुरुष है उसको विप्रदुष्ट कहते हैं। उसके करने से न वेदज्ञान, न त्याग, न यज्ञ, न नियम, और न धर्माचरण सिद्धि को प्राप्त होते हैं किन्तु ये सब जितेन्द्रिय धार्मिक जन को सिद्ध होते हैं। इसलिए पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और ग्याहरवें मन को अपने वश में करके युक्ताहार विहार योग से शरीर की रक्षा करता हुआ सब अर्थों को सिद्ध करे।

जितेन्द्रिय उसको कहते हैं जो स्तुति सुन के हर्ष और निन्दा सुन के शोक, अच्छा स्पर्श करके सुख और दुष्ट स्पर्श से दुःख, सुन्दर रूप देख के प्रसन्न और दुष्ट रूप देख के अप्रसन्न, उत्तम भोजन करके आनन्दित और निकृष्ट भोजन करके दुःखित, सुगन्ध में रूचि और दुर्गन्ध में अरूचि नहीं करता है। कभी बिना पूछे वा अन्याय से पूछने वाले को जो कपट से पूछता हो उसको उत्तर न देवे। उनके सामने बुद्धिमान जड़ के समान रहे। हां जो निष्कपट और जिज्ञासु हों उनको बिना पूछे भी उपदेश करे। एक धन, दूसरे बन्धु कुटुम्ब कुल, तीसरी अवस्था, चौथा उत्तम कर्म और पांचवी श्रेष्ठ विद्या ये पांच मान्य के स्थान हैं। परन्तु धन से उत्तम बन्धु, बन्धु से अधिक अवस्था, अवस्था से श्रेष्ठ कर्म और कर्म से पवित्र विद्या वाले उत्तरोत्तर अधिक माननीय हैं। क्योंकि चाहे सौ वर्ष का भी हो परन्तु जो विद्या विज्ञानरहित है वह बालक और जो विद्या विज्ञान का दाता है उस बालक को भी वृद्ध मानना चाहिए। क्योंकि सब शास्त्र आस्र विद्वान अज्ञानी को बालक और ज्ञानी को पिता कहते हैं। अधिक वर्षों के बीतने, श्वेत बाल के होने, अधिक धन से और बड़े कुटुम्ब के होने से वृद्ध नहीं होता। किन्तु ऋषि महात्माओं का यही निश्चय है कि जो हमारे बीच में विद्या विज्ञान में अधिक है वही वृद्ध पुरुष कहाता है। ब्राह्मण ज्ञान से, क्षत्रिय बल से, वैश्य धन धान्य से और शूद्र जन्म अर्थात् अधिक आयु से वृद्ध होता है। इसलिए विद्या पढ़, विद्वान् धर्मात्मा होकर निर्वैरता से सब प्राणियों के कल्याण का उपदेश करे और उपदेश में वाणी मधुर और कोमल बोले। जो सत्योपदेश से धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करते हैं वे पुरुष धन्य हैं। नित्य स्नान, वस्त्र, अन्न, पान, स्थान सब शुद्ध रखें क्योंकि इनके शुद्ध होने में चित्त की शुद्धि और आरोग्यता प्राप्त होकर पुरुषार्थ बढ़ता है। **आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च।** अर्थात् जो सत्यभाषणादि कर्मों का आचरण करना है वही वेद और स्मृति में कहा हुआ आचार है। अतः मनुष्य को वेद एवं स्मृति प्रतिपादित आचार का पालन करना चाहिए। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाश में जिस आचार-अनाचार विषय का उल्लेख किया है वह आर्यों के जीवन का आवश्यक अंग होना चाहिए। आर्य समाज के प्रत्येक सदस्य का कर्तव्य है कि वह अपने जीवन में सदाचार के नियमों का पालन करें तथा अपने जीवन को शुद्ध एवं पवित्र बनाएं।

प्रेम भारद्वाज  
सम्पादक एवं सभा महामन्त्री

## महर्षि दयानन्द की दृष्टि में अहिंसा किसके लिए कितनी व्यवहार्य?

ले.-पं. वेद प्रकाश शास्त्री, फाजिल्का

( गतांक से आगे )

8. राजादि... जो कुत्ते आदि पशुओं को अन्नादि से रक्षा कर तथा अच्छी शिक्षा देकर उपयोग में लावें, उनको सुख प्राप्त करावें।

यजु. 16/27

9. राजा को चाहिए कि जो राज्य के सेवन शत्रुओं के निवारण करने में यथाशक्ति प्रयत्न न करें, उनको अच्छे प्रकार दण्ड देवें और जो अपने सहायक हों, उनका सत्कार करें। यजु. 15/2

10. राजा आदि पुरुष मृत्यु के हेतु सिंह आदि पशुओं को रोक कर गौ आदि पशुओं की रक्षा करते हैं।

यजु. 15/15

11. राजपुरुषों को चाहिए कि युद्ध विद्या को जान और शस्त्र-अस्त्रों को धारण करके मनुष्यादि श्रेष्ठ प्राणियों को क्लेश न देवें वान मारें किन्तु मंगलरूप आचरण से सबकी रक्षा करें। यजु. 16/3

12. मनुष्यों को चाहिए कि कुत्ते आदि पशुओं को अन्नादि से बढ़ा के उनसे उपकार लेवें और पशुओं के रक्षकों का सत्कार भी करें।

यजु. 16/28

13. जो मनुष्य मेघ से उत्पन्न वर्षा और वर्षा से उत्पन्न हुए तृण आदि की रक्षा से गौ आदि पशुओं को बढ़ावें, वे पुष्कल भोग को प्राप्त होवें। यजु. 16/44

14. जो राजा और प्रजा के पुरुष हैं, वे प्रजा के पशुओं को कभी न मारें। जिससे प्रजा में सब प्रकार सबका सुख बढ़े। यजु. 16/47

15. जो पुरुष अन्न को खाते और जलादि को पीते हुए जीवों को विष आदि से मार डालते हैं, उनसे सब लोग दूर बसें।

यजु. 16/62

16. जिस अपराध में साधारण मनुष्य पर एक पैसा दण्ड हो, उसी अपराध में राजा पर सहस्र पैसा दण्ड अर्थात् साधारण मनुष्य जो राजा पर सहस्र गुणा दण्ड होना चाहिए। दीवान अर्थात् राजा के मन्त्री को आठ सौ गुणा, उससे न्यून को सात गुणा... दण्ड होना चाहिए। क्योंकि प्रजापुरुष से राजपुरुषों को अधिक दण्ड न होवे तो राजपुरुष प्रजापुरुषों का नाश कर देवें। जैसे सिंह अधिक और बकरी थोड़े से ही दण्ड से वश में आ जाती है। इसलिए राजा से लेकर छोटे से छोटे भृत्य तक राजपुरुषों को अपराध में प्रजा से अधिक दण्ड होना चाहिए।

स.प्र. समु. 6

यथार्थतः अहिंसा किसके लिए कितनी व्यवहार्य?

यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है और चिन्तनीय भी। अहिंसा के व्यवहार के लिए स्पष्टतः कोई विभाजकीय रेखा नहीं खींची जा सकती। यह तो व्यक्ति के कर्तव्य कर्म पर निर्भर करता है। यथा-साधु-संन्यासी, राजा-प्रजा, अधिकारी-कर्मचारी, सेनापति-सेना और शत्रु, न्यायाधीश और आरोपी-प्रत्यारोपी आदि।

साधु-संन्यासी अथवा एतादृश व्यक्तियों के लिए अहिंसा पूर्णतः व्यवहार्य है। उदाहरणतः-

(क) संन्यासी होने के कारण महर्षि दयानन्द अहिंसा के पूर्णरूपेण समर्थक थे। परन्तु राजाओं के लिए क्षत्रिय धर्म के पोषक भी। जैसा कि उनके जीवन से प्रकट होता है-

एक दिन एक ब्राह्मण स्वामी जी के समीप आया। विनयपूर्वक नमस्कार करके उसने स्वामी जी के सामने पान निवेदन किया। महाराज ने सहज स्वभाव से वह पान मुख में रख लिया। परन्तु उसका रस लेते ही जान गए कि यह विषयुक्त है। पर उन्होंने उस नराधम को कुछ कहा नहीं। वह बस्ती और न्योलीकर्म करने के लिए गंगा पर चले गए। देर तक क्रिया करके फिर आसन पर आ विराजे।

स्वामी जी को विष देने का भेद किसी प्रकार तहसीलदार महोदय को भी ज्ञात हो गया। स्वामी चरणों में श्रद्धा होने के कारण उसने तुरन्त उस पापी को पकड़ लिया और बन्दीगृह में डाल दिया। तत्पश्चात् स्वामी जी के दर्शनार्थ चला। मार्ग में प्रसन्नता से उसके हृदय में यह विचार उत्पन्न हो रहे थे कि आज मैंने स्वामी जी के शत्रु को दण्ड देकर बदला लिया है। इसीलिए वह प्रफुल्लवदन आशीर्वाद देंगे। परन्तु वहां तो विपरीत असर पड़ा। स्वामी जी ने कहा-"मैं मनुष्यों को बंधवाने नहीं अपितु छुड़वाने आया हूं। यदि दुष्ट अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते तो हम क्यों स्वश्रेष्ठता का परित्याग करें।"

यह शब्द सुनकर तहसीलदार रोमाञ्चित हो उठा। उसने क्षमा का ऐसा धनी, प्रशान्त पुरुष दूसरा नहीं देखा था। वह कर जोड़, नमस्कार करके चला गया। उसने जाते ही ब्राह्मण को स्वतंत्र कर दिया।

(ख) स्वामी जी एक दिन प्रातः काल घूमने जा रहे थे। मार्ग में एक मनुष्य ने उन्हें बहुत ही कुवचन कहे।

उसने यह भी कहा कि तू ईसाइयों का नौकर है। हमें ईसाई बनाना चाहता है। महाराज उसकी अज्ञानलीला पर मुस्कराते ही रहे और घूम कर अपने आसन पर आ विराजे।

वही गाली देने वाला मनुष्य यह सोच कर कि अब दयानन्द को उसके स्थान पर जाकर चिढ़ायें, महाराज के समीप आया। स्वामी जी ने उसका 'आइए, बैठिए' इत्यादि शब्दों से स्वागत किया और मधुर वचनों से उसके वहां आने का कारण पूछा। वह मनुष्य यद्यपि हृदय पाषाण समान कठोर रखता था, स्वामी जी को सताने आया था, परन्तु उनके कृपा भाव से, वीतराग स्वभाव से, सुजनता के बर्ताव से उसका मन मोम हो गया। पश्चाताप के उद्रेक से उसका जी भर आया। श्री चरणों को अपने अनर्गल अश्रुओं से सिंचन करके क्षमा की याचना करने लगा। स्वामी जी ने उसे ढाढ़स बंधाया और कहा-"शब्द आकाश में उत्पन्न होकर वहीं लय हो जाता है। इसलिए तुम्हारे वे वचन भी नष्ट हो गए हैं। वे मेरे पास नहीं हैं। उन्होंने मुझे स्पर्श नहीं किया। इसी कारण उनसे मुझे यत्किञ्चित् भी दुःख नहीं हुआ।"

ऊपर प्रस्तुत की गई दोनों घटनाएं अग्रलिखित कसौटी पर पूर्णतः खरी उतरती हैं-

**अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ योग. 1/1/35**

उन्होंने अहिंसा में पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हो जाने के कारण वैरभाव को सर्वथा त्याग दिया था।

अब अहिंसा की यथार्थता का एक और व्यवहार्य रूप प्रस्तुत है-

(ग) गंगा स्नान के मेले पर महर्षि दयानन्द कर्णवास पधारे। उस समय राव कर्णसिंह भी स्नानार्थ वहां आए थे। रात्रि में उनके निवास पर रास होने लगा। कुछ पण्डित स्वामी जी को भी बुलाने आए। परन्तु स्वामी जी ने कहा-"हम ऐसे निन्दनीय कार्य में कदापि सम्मिलित नहीं हो सकते। अपने महापुरुषों का स्वांग बनाना अति लज्जास्पद और शोचनीय बात है।"

अगले दिन पण्डितों ने स्वामी जी के कथन को नमक-मिर्च लगा कर राव कर्ण सिंह को उत्तेजित किया। वे भी उत्तेजित होकर नौकरों चाकरों सहित स्वामी जी की कुटिया पर चढ़ आए। राव महाशय छड़ी से छेड़े हुए नाग की भांति कोपावेश में बल खा रहे थे। उसने स्वामी जी

पर कुवचन की झड़ी सी लगा दी।

इतना होते हुए भी स्वामी जी हंसते हुए कहने लगे-"राव महाशय! यदि शास्त्रार्थ (शास्त्र चर्चा) करना अभीष्ट है तो वृन्दावन से अपने गुरु रंगाचार्य जी को यहां ले आइए। हम कटिबद्ध हैं और यदि शास्त्रार्थ (युद्ध) करने का चाव है तो संन्यासी से क्यों टकराते हो? जयपुर-जोधपुर से जा भिड़ो।"

फिर क्या था, राव जी आपे से बाहर हो गए। उनकी आंखों से चिनगारियां छूटने लगीं। होठ फड़क उठे। तलवार पर हाथ पहुंच गया। स्वामी जी की ओर लपके। स्वामी जी ने-"अरे धूर्त!" कहते हुए उन्हें हाथ से धकेल दिया। इससे राव एक बार तो लुढ़क गए। परन्तु फिर संभल कर चौगुने क्रोध से महाराज पर तलवार का वार करने के लिए आगे बढ़े। वे तलवार चलाना ही चाहते थे कि महाराज ने झपट कर तलवार छीन ली और उसके दो टुकड़े कर दिए।

स्वामी जी ने राव का हाथ पकड़ कर कहा-"क्या तुम चाहते हो कि मैं भी आततायी पर प्रहार का बदला लूं? मैं संन्यासी हूं। तुम्हारे किसी अत्याचार से चिढ़कर मैं तुम्हारा अनिष्ट चिन्तन नहीं करूंगा। जाओ, ईश्वर तुम्हें सुमति प्रदान करे।"

महर्षि की अहिंसा का एक रूप यह भी है। अपनी शक्ति भी दिखाई। परन्तु संन्यासी होने के नाते उसका अनिष्ट भी नहीं चाहते थे। वरना उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में यह भी लिखा है-

**नाततायी वधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ॥ मनु. 8/351**

आततायी के वध में हन्ता का कोई दोष नहीं होता।

परन्तु यह संन्यासी का धर्म नहीं अपितु राजा अथवा राज्याधिकारी का धर्म है कि वह आततायी को दण्डित करे।

**क्षत्रियों के लिए अहिंसा**

क्षत्रियों (सैनिकों) के लिए राष्ट्र रक्षा सर्वोपरि है। अतः सैनिक अपना बलिदान देने के लिए सर्वदा तत्पर रहते हैं। शत्रुओं का संहार करना और राज्य की रक्षा करना क्षत्रियों का परम धर्म और कर्तव्य है। शत्रुओं को समाप्त कर देना हिंसा नहीं अपितु अहिंसा ही है। वस्तुतः क्षत्रियों का धर्म ही युद्ध करना है अतः उससे डरना नहीं चाहिए-

योगिराज श्री कृष्ण कहते हैं-

( शेष पृष्ठ 7 पर )

## “महर्षि दयानन्द के जीवन के कुछ प्रेरणादायक प्रसंग”

ले.-पं. खुशहाल चन्द्र आर्य C/o गोबिन्द राय आर्य एण्ड सन्ज १८० महात्मा गान्धी रोड़, ( दो तल्ला ) कोलकत्ता-700007

महर्षि दयानन्द के जीवन के कुछ प्रेरणादायक प्रसंग निम्नलिखित हैं:

१. मैं केवल शास्त्रार्थ करना ही नहीं जानता, शस्त्रार्थ करना भी जानता हूँ:

महर्षि जी अजमेर से कृष्णगढ़ पहुँचे। वहाँ के राजा बल्लभमत के अनुयायी थे। महर्षि जी ने जब भागवत का खण्डन आरम्भ किया तो राजा की तयारियाँ चढ़ गई। उन्होंने उपद्रव कर महर्षि जी को कृष्णगढ़ से बाहर करने की योजना बनाई। महर्षि जी के पास भेजने के लिए कुछ पण्डित तैयार किये और उनके साथ एक उपद्रवी ठाकुर गोराम सिंह को भेज दिया। धर्म-चर्चा करना उनका उद्देश्य नहीं था। वे यह जानते भी थे कि महर्षि जी के अथाहज्ञान सागर में उनके पैर नहीं टिक पाएंगे। उनके हाव-भाव देखकर महर्षि जी को स्थिति समझते देर न लगी। वे अपने आसन पर विराजमान हो गये। संक्षिप्त चर्चा के बाद आगन्तुकों ने योजनानुसार हुल्लड़ आरम्भ कर दिया। महर्षि जी स्थिति से निपटने के लिए तैयार थे। वे अपने आसन पर तन कर खड़े हो गये और बोले-मैं केवल शास्त्रार्थ करना ही नहीं जानता, शस्त्रार्थ करना भी जानता हूँ।

२. मैं राजमहलों में नहीं ठहरता हूँ-महाराजा जयपुर को जब यह जानकारी मिली कि महर्षि जी जयपुर में पधारे हुए हैं तो उन्होंने व्यास बक्सीराम और ठाकुर रणजीत को भेजकर प्रार्थना की कि महर्षि जी मेरा आतिथ्य स्वीकार कर राजमन्दिर में निवास करें। यहां उनकी सुख-सुविधा में कोई त्रुटि न होने पायेगी। महाराजा जयपुर का निमन्त्रण महर्षि जी ने यह कह कर अस्वीकार कर दिया कि मैं राजमहलों में नहीं ठहरता हूँ।

३. मैं तो लोगों को बन्धन-मुक्त करने आया हूँ, मेरे कारण कोई बन्धन में क्यों रहे:-महर्षि जी की बोलने की शैली से प्रबुद्ध लोग प्रभावित हुए बिना नहीं रहते थे। उनके श्रोताओं में हर वर्ग और सम्प्रदाय के लोग सम्मिलित होते

थे। इन्हीं श्रोताओं में वहाँ के तहसीलदार सैयद मुहम्मद नित्य ही महर्षि जी के उपदेश सुनने के लिए आते थे। वे महर्षि जी के भक्त हो गये थे। एक दिन उन्हें जानकारी मिली कि किसी धर्मान्ध ब्राह्मण ने पान में स्वामी जी को विष दे दिया है। उन्होंने इस ब्राह्मण की खोज की और उसे कारावास में डाल दिया। यद्यपि न्यूली क्रिया से महर्षि जी ने विष निकाल दिया था और वे पूर्णतः स्वस्थ हो गये थे। महर्षि जी को भी इस घटना की जानकारी मिल गई। अगले दिन जब तहसीलदार साहब महर्षि जी के समीप पहुँचे तो महर्षि जी ने उनसे कहा-“आपने एक व्यक्ति को कारावास में डाल दिया है। यह अच्छा नहीं किया।” तहसीलदार साहब ने विनम्र भाव से कहा-“उसने महाराज को विष देने का घोर अपराध किया है।”

महर्षि ने कहा-“यह तो ठीक है, परन्तु मैं तो लोगों को बन्धन-मुक्त कराने के लिए आया हूँ। मेरे कारण कोई बन्धन में क्यों रहे?” तहसीलदार सैयद मुहम्मद, महर्षि जी की उदार भावना से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने जाते ही उस ब्राह्मण को मुक्त कर दिया।

४. शीत निवारण में योग का प्रभाव व अभ्यास: उतरते माह के शीत-भरे दिन, हल्की पुरवैया के शीतल झोंके, रात का दूसरा पहर और गंगा के किनारे की ठण्डी रेत, उस पर लंगोटी लगाए पद्मासनस्थ साधना-सिद्धि में मग्न ऋषि दयानन्द, तभी बदायूँ के कलैक्टर अपने एक पादरी मित्र के साथ आखेट के लिए उधर आ निकले। शरीर को कंपा देने वाले शीत में निर्वस्त्र साधु को ध्यान-मग्न देखा तो उनके भव्य मुखमण्डल को वे उस समय तक निहारते रहे, जिस समय तक ऋषि जी का ध्यान भंग न हुआ। आँख खुलते ही विनम्र भाव से उन्होंने महर्षि जी को अभिनन्दन किया और बोले-“इस हाड़ कंपा देने वाली शीत-रात्रि में आप बिना वस्त्र अचल बैठे अपने ध्यान में

मग्न हैं, जब कि हम लोग, ऊनी वस्त्र पहनने के पश्चात् भी ठण्ड से अपने शरीर में कम्पन अनुभव कर रहे हैं। आपको शीत भरे मौसम में भी ठण्ड नहीं सताती, इसका कारण हमें समझाइए।”

महर्षि जी मुस्कुराए और उनसे कहा-“योग का प्रभाव और शरीर का अभ्यास ही इसका कारण है। जिस प्रकार आपने इस शीत में भी गर्म वस्त्रों से अपना मुख नहीं ढाँपा, फिर भी उसे ठण्ड नहीं लगती। इसलिए कि मुख को शीत सहने का अभ्यास हो गया है, इसी प्रकार मेरे पूरे शरीर को शीत सहने का अभ्यास हो गया है।”

(धन्य है महर्षि जी की निरभिमानता, यदि दूसरा कोई होता तो अपने योग-बल की बड़ी प्रशंसा करता)

५. यह रोटी नाई की नहीं, गेहूँ की है-चासी के समीप ठहर कर कुछ समय के पश्चात् महर्षि जी अनुपशहर (बुलन्दशहर) आ विराजे। वे छुआछूत और जाति-पाति के विरोधी थे। उनका दयालु हृदय सभी को समभाव से देखता था। अनुपशहर का उमेदा नाई महर्षि जी का भक्त हो गया था। महर्षि जी का यह नियम था कि जो भक्त श्रद्धाभाव से प्रथम भोजन उनकी सेवा में ले आये, वे उसे ही ग्रहण कर लेते थे। एक दिन उमेदा के मन में भी महाराज श्री को भोजन कराने की इच्छा हुई। प्रीतिपूर्वक अपनी गृहिणी से भोजन बनवाकर

श्री चरणों में उपस्थित हुआ और भोजन कर लेने की प्रार्थना की। महर्षि जी ने शान्तभाव से भोजन करना आरम्भ कर दिया। उस समय महर्षि जी के समीप कुछ ब्राह्मण भी धर्म चर्चा का आनन्द ले रहे थे। उन्होंने आश्चर्य से महर्षि जी को ओर देखकर कहा-“महर्षि जी, आप क्या कर रहे हैं? यह तो नाई है। आप नाई की रोटियाँ खा रहे हो।”

महर्षि जी ने उनकी ओर बिना देखे ही उत्तर दिया-“नहीं, मैं नाई की रोटियाँ नहीं खा रहा हूँ। मैं तो गेहूँ की रोटियाँ खा रहा हूँ।”

६. सत्यासत्य जानते हैं, पर मानते नहीं-उन दिनों पं. हेमचन्द्र, महर्षि जी से आर्षग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। महर्षि जी के प्रति उनके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। एक दिन जिज्ञासावश उन्होंने महर्षि जी से प्रश्न किया-“स्वामी जी, बहुत से विद्वान् आपसे शास्त्रार्थ करने आते हैं। क्या वे सभी सत्यासत्य का निर्णय करने में असमर्थ हैं?”

महर्षि जी हंस पड़े। बोले-“वे लोग सत्यासत्य को जानते हैं, परन्तु मानते नहीं हैं। मान लेने से उन्हें अपना धन्धा चौपट हो जाने का भय है। जो मान लेते हैं, वे उसके प्रचार में लग जाते हैं।

यह लेख समझदार व्यक्तियों के लिए अति लाभदायक है। इसको पढ़ने के बाद मुझे विश्वास है कि काफी लोग वैदिक धर्म के प्रति आकर्षित होंगे।

### आर्य मर्यादा के ग्राहक महानुभावों की सेवा में

आर्य मर्यादा साप्ताहिक निरन्तर आपकी सेवा में पहुँच रही है। जिन आर्य मर्यादा के ग्राहकों ने अभी तक अपना वार्षिक शुल्क या पिछला शुल्क नहीं भेजा है उनसे विनम्र प्रार्थना है कि वह अपना वार्षिक शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। आर्य मर्यादा का वार्षिक शुल्क मात्र 100/- रुपये है और आजीवन सदस्यता शुल्क 1000/- रुपये है। इसलिये मेरी सभी ग्राहक महानुभावों से प्रार्थना है कि वह अपना शुल्क जल्द से जल्द भिजवाने की व्यवस्था करें। इसके साथ ही आर्य समाजों के पदाधिकारियों एवं सदस्यों से भी निवेदन है कि वह अधिक से अधिक आर्य मर्यादा के ग्राहक बनाने में सहयोग करें। आशा है आप का सहयोग हमें प्राप्त होगा।

-व्यवस्थापक आर्य मर्यादा

## यज्ञ और उसके ज्ञान के साधन

ले.-डा. अभयदेव शर्मा

### ( गतांक से आगे )

वेद ही विद्या और ब्रह्म है। प्रसिद्ध है कि वेद त्रयी हैं। इसी प्रकार, विद्या और ब्रह्म भी तीन हैं। पुमान्, स्त्री और क्लीब, इन तीन लिंगों में विभक्त चराचर जगत् के सर्जन, व्यवस्थापन और विलयन की प्रक्रिया वेद वा विद्या वा ब्रह्म है। वृषायोषारूप स्त्रीपुंभाव सृष्टि के अणु-अणु में विद्यमान है। उनके मिथुनोपायन से प्रजननरूप प्राजापत्य चक्र प्रकांत है। यही यज्ञ है। मान्यता है कि वेद का प्रवर्तन यज्ञ के लिये हुआ है। यज्ञ के अनंत प्ररूप हैं। प्रत्येक अपने-अपने यज्ञ (कर्म) पलवों के द्वारा परमेष्ठय समुद्र में सन्तरण कर रहा है। जो यज्ञकर्म में असमर्थ है, जिसके विकास की दिक् अवरुद्ध हो चुकी है वही स्त्रीपुंभावाती क्लीब वा नपुंसक है। प्राण और रयि से रिक्त वस्तु, चाहे चेतन हो वा जड़ क्लीब है। दर्शन की भाषा में सत्, रजस्, तमस् ये त्रिगुण वेद के विषय हैं। इस त्रिगुणात्मक जगत् का प्रत्येक संभव दृष्टिकोण से विवरण-विवेचन त्रैगुण्यविषय वेद की परिधि में आता है। अतः वेद की ज्ञानानुज्ञानात्मक असंख्य शाखायें हैं।

वेद (ज्ञान) का प्रत्यक्ष प्रतिपाद्य यह सब का चिरपरिचित विश्व है। समस्या का समाधान एवं भ्रांति में मार्ग-दर्शन जो न कर सके वह वेद (ज्ञान) नहीं हो सकता। ऋक्, यजुः, साम वेद (ज्ञान) की तीन प्रधान शाखायें हैं। मनुष्य ही नहीं, प्राणिमात्र का जीवन देह-प्राण-मन के त्रिकोण में मर्यादित है तथा उसे केन्द्रस्थ ऐंद्र बल अपने समिन्धन से स्वस्थ रखे हुए है। क्षरणस्वभाव विश्व का अक्षरामिहित तथा अव्ययामृत-रसाश्रित जो परम परायण है, उसकी ओर चराचर समष्टि, जाने अनजाने वैसे ही उन्मुख है जैसे जल समुद्र की ओर। अतः त्रिगुणात्मक वेद का भी चरम प्रतिपाद्य अवाङ्-मनोगोचर परम ब्रह्म है।

यज्ञविधि के ज्ञान के बौधायन श्रौतसूत्र ने पांच उपाय माने हैं: छन्दः अर्थात् मन्त्र, ब्राह्मणभाग, प्रत्यय (एविडन्स), न्याय (इन्फारन्स), संस्थावश।

( १ ) छन्दः-कल्प के विषय में मन्त्र परम प्रमाण है। वेदों से यज्ञ-क्रियाओं का विधान किया जाता है।

ऋग्वेद से होतृकर्म, यजुर्वेद से आध्वर्यव कर्म, सामवेद से औद्गात्र कर्म और अथर्ववेद से ब्राह्म कर्म सम्पन्न होते हैं। ये वेद क्रमशः इन कर्मों का साक्षात् विधान यत्र-तत्र करते हैं, तथा क्रियाविनियोगार्थ मन्त्र उपलब्ध कराते हैं। होता ऋग्वेद से उच्च स्वर से शस्त्रशंसन, अध्वर्यु यजुर्वेद से ग्रहों का उपांशु उच्चारण तथा हविःप्रचरण, उद्गाता सामवेद से स्तोत्रों का उच्च स्वर में गान, और ब्रह्मा अथर्ववेद से तृष्णीं प्राजापात्य कर्म करता है। ब्राह्म कर्म अन्य वेदों से भी सम्पन्न होता है क्योंकि ब्रह्मा सर्ववेदविद् तथा आवश्यकतानुसार अन्य ऋत्विजों का स्थानी, और उनके त्रुटित वा विस्मृत कर्मों का प्रायश्चित्त तत्तद् वेद से करने वाला होता है। इष्टि का सम्पादन ऋक् और यजुः से, याग का अनुष्ठान चारों वेदों से, अग्निहोत्रादि होमकरण यजुः से और अग्निष्टोम तीनों वेदों से होता है। किसी मन्त्र का उच्चारण करके जो कर्म सम्पन्न किया जाता है उसका उल्लेख बहुत करके मन्त्र में उपलब्ध हो जाता है। वस्तुतः वही विनियोग उत्कृष्ट होता है जहां मन्त्र स्वयं अपने कर्म का प्रवचन कर रहा हो। यही मन्त्रों का 'प्रज्ञातत्व' है। यदि किसी कर्म को दुहराया जाना है तो अनेक विनियोगों में, बौधायनश्रौतमूत्र के अनुसार, इसका भी अवेषण किया जा सकता है। वेदसंहिता में मन्त्रों के कम से कर्मों के, कर्मांगों के, तथा प्रकरणों के पौर्वापर्य का भी प्रत्यय मिल सकता है। मन्त्र मनन-विषय होते हैं। अतः उनसे अन्य भी विधिपरक अभिप्रायों का बोध हो सकता है।

( २ ) ब्राह्मणम्-आपस्तम्भ और सत्याषाढ श्रौतसूत्र भी कल्पविषय में इसे परम प्रमाण कहते हैं। जिस कर्म का कल्पन छन्दः से न हो उसे ब्राह्मण से जानना चाहिये। अनेक मन्त्र कर्मनिर्देश नहीं करते हैं। ऐसे अप्रज्ञात मन्त्रों से कर्म विधान ब्राह्मण करते हैं, छन्दः नहीं। छान्दोविधान के ऊनत्वपूरक होने से, ब्राह्मण को भी 'वेद' वा 'आम्नाय' संज्ञा कल्पशास्त्र में प्राप्त हुई है। छन्दः वा मन्त्र और ब्राह्मणभाग, दोनों मिलकर कल्प का वेद हैं, क्योंकि ये दोनों उसका वेदन कराते हैं। ब्राह्मणों में कर्मों के विषय

में अर्थवाद (निन्दा, प्रशंसा एविडन्स), परकृति तथा पुराकल्प भी हैं।

( ३ ) प्रत्यय-किसी वेदविशेष से क्रियमाण कल्पविशेष का अन्य वेदों में आये तत्तुल्य प्रसंग में विहित विधान से भी ज्ञान हो सकता है। इस बहि साक्ष्य को बौधायनश्रौतसूत्र ने 'प्रत्यय' संज्ञा दी है।

( ४ ) न्याय-किसी प्रकृत कर्म विशेष की पुष्टि यदि किसी शास्त्रप्रमाण से न होती हो तो भी उसे अमान्य नहीं समझा जा सकता है। अनेक प्रचलित कर्मों के विधान लुप्त हो चुके हैं। कौशिकसूत्र का प्रवक्ता इस लोपेतिहार से अभिज्ञ था। ऐसे कर्मों को ग्रामान्याय (परम्परा, सम्प्रदाय), जिसका मूल अर्हत्समारम्भ है, मान कर ग्रहण करना चाहिये, भले ही उसकी विस्मृति लोक को हो चुकी हो। स्मृति का आधार श्रुति है। अतः यदि किसी श्रौत कर्म का शास्त्रविधान न मिले तो स्मृति में वैसे कर्म को देखकर श्रौत कर्म का कल्पन समझ लेना चाहिये। गृह्यकर्मों में तो प्रायः विधान किया गया है कि जैसा स्त्रियाँ कहें वैसा करना चाहिए। ऐसे प्राकृत तन्त्र सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक आदि दृष्टियों से रोचक तथ्य अनावृत कर सकते हैं।

( ५ ) संस्थावशत्व-चालू ऋतु को किसी विघ्न के कारण अधूरा छोड़ने के बजाय, उसे अन्य किसी सम्भव उपाय से सम्पन्न कर लेना चाहिये। ऋतु की संस्थिति (अन्तर्पर्यन्त अनुष्ठान) की दृष्टि से इस उपाय के अन्तर्गत याजकों को स्वच्छन्दता प्रदान की गई है। उदाहरणार्थ, सोमापहरण हो जाये तो आदार वा फाल्गुन का अभिषवन करके ऋतु को संस्थित करना चाहिये। ऐसे विकल्पविधान वेद में भी प्राप्त हैं, और सूत्रों ने तो बहुत दिये हैं। ये सब यज्ञ की संस्थितिवश किये गये हैं।

कात्यायनश्रौतसूत्र ने दो अन्य साधन दिये हैं जिनका उपयोग किसी यज्ञ के प्रधान और अंग कर्मों के निर्णय में किया जाता है। वे हैं समभिव्याहार, प्रकरण। जिस कर्म (याग वा अंश होम) का शास्त्र में फल घोषित किया गया तो उसे प्रधान कर्म, तथा अफलनिर्दिष्ट कर्म (याग, होम, अवान्तर किया) को प्रधान कर्म का अंग समझना चाहिये।

अंगागिनिर्णय में जैमिनि ने श्रुति, लिङ्ग, स्थान और समाख्या को भी साधन माना है।

यज्ञविधि के ज्ञान का उत्तम साधन कल्पसूत्र हैं। संहिता और ब्राह्मण का अनुगन्ता, यह सूत्र-वाङ्मय ऋत्विग्विशेष द्वारा कर्तव्य कर्मों का प्रतिपादन करने वाला होने से चार प्रकार का है। ये सूत्रग्रन्थ अपनी संहिता और अपने ब्राह्मण का अनुगमन करते हुए वेदविशेष से सम्बद्ध हैं। ऋग्वेदीय सूत्रों का विषय होतृकर्म का विवेचन है तो इसी प्रकार यजुर्वेदीयादि सूत्र क्रमशः आध्वर्यवादि कर्मों को प्रधानरूप से लक्ष्य बनाते हैं। यजमान जिस वेदशास्त्रा को मानने वाला होता है उस वेद से सम्बद्ध, ऋत्विग्विशेष कर्म तो वह स्वशाखानुसार कराता है। पर अन्य वेदों से सम्बद्ध ऋत्विक्कर्मों के लिये उसे अन्य वेद-शाखागत कल्पसूत्रों का ग्रहण करना होता है। यथा, याजुष, कात्यायन शाका को मानने वाला यजमान आध्वर्यव कर्म तो कात्यायनकल्पानुसार कर लेगा। पर हौत्र कर्म के लिये वह शांखायनसूत्र से संगत हो जाता है। सूत्रों में अन्य शाखाओं की वेदसंहिताओं से मन्त्र भी लिये गये हैं। ऐसे गृहीत मन्त्रों का पूरा पाठ सूत्र देते हैं। पर स्वशाखीय संहिता के मन्त्रों के आदि पदों को ही प्रतीकरूप में उद्धृत किया जाता है। यह सूत्रों की शैली है।

प्रायः देखा गया है कि एक क्रिया से सम्बद्ध कुछ तथ्य किसी श्रौतसूत्र में मिलते हैं तो कुछ अन्य श्रौत-सूत्रों में बिखरे मिलते हैं। यदि विभिन्न श्रौतसूत्रों के किसी क्रियाविशेष से सम्बद्ध सब विधान संग्रहीत कर लिये जायें, तो क्रिया का ठाठ खड़ा हो जाता है। श्रौतसूत्रों में क्रियाविशेष का आंशिक विवरण इस कारण भी है कि प्रत्येक श्रौतसूत्र क्रियाविशेष के स्वत्विसम्बद्ध पक्ष ही को प्रस्तुत करने में सामान्यतः रुचि रखता है। अतः अन्यात्विकपरक बातों के लिये अन्य श्रौतसूत्रों को पलटना अनिवार्य हो जाता है।

यज्ञों पर प्रयोग-ग्रन्थ भी प्राप्त हैं जिनमें ऋत्विजों के व्यवहारार्थ क्रियाओं और विनियोगादि का सविस्तार तथा कमिक विवरण दिया गया है।

### पृष्ठ 4 का शेष-महर्षि दयानन्द की दृष्टि...

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽ-  
न्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।

गीता 2/31

क्षत्रिय होने के नाते अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है। क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः।। गीता 2/37

इससे युद्ध करना तेरे लिए सब प्रकार से अच्छा है क्योंकि या तो तू मर कर स्वर्ग को प्राप्त करेगा अथवा जीतकर पृथ्वी के राज्य को भोगेगा। अतः हे अर्जुन! तू निश्चय पूर्वक युद्ध के लिए उठ खड़ा हो।

मनु महाराज के शब्दों में महर्षि कहते हैं-

समोत्तमाधमै राजा त्वाहूतः

पालयन् प्रजाः।

न निवर्तेत संग्रामात् क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्।। मनु. 7/87

जब कभी प्रजा का पालन करने वाले राजा को कोई अपने से छोटा, तुल्य और उत्तम संग्राम में आह्वान करे तो क्षत्रियों के धर्म का अनुसरण करके, संग्राम से कभी निवृत्त न हो अर्थात् बड़ी चतुराई के साथ उनसे युद्ध करे, जिससे अपनी विजय हो।

जब संग्रामों में एक दूसरे को हनन करने की इच्छा करते हुए राजा लोग, जितना अपना सामर्थ्य हो बिना डर, पीठ न दिखा, युद्ध करते हैं, वे सुख को प्राप्त करते हैं, इससे विमुख कभी न हो, किन्तु कभी-कभी शत्रु को जीतने के लिए उनके सामने से छिप जाना उचित है। क्योंकि जिस प्रकार से शत्रु को जीत सके, वैसे काम करें। जैसे सिंह क्रोध से सामने आकर शस्त्राग्नि में शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे मूर्खता से नष्ट भ्रष्ट न हो जावें।

स.प्र.समु. 6, पृष्ठ-125

एषोऽनुपस्कृतः प्रोक्तो योधधर्मः सनातनः।

अस्माद् धर्मान् च्यवेत क्षत्रियो घ्नन् रणे रिपून्।। मनु. 7/98

यह अनिन्दनीय सनातन युद्ध का धर्म कहा गया। रण में शत्रुओं को मारता हुआ क्षत्रिय इस धर्म से न गिरे।

वर्तमान समय में वे सभी व्यक्ति क्षत्रिय ही हैं, जो सेना में सैनिक रूप में कार्यरत हैं। वे चाहे हिन्दू हों, मुसलमान, सिक्ख या ईसाई हों,

सभी सैनिक क्षत्रिय हैं। प्राचीन नाम क्षत्रिय और आधुनिक नाम सैनिक है।

महर्षि दयानन्द युद्ध के विषय में कहते हैं-

“क्या सब बुद्धिमानों ने यह निश्चय नहीं किया है कि जो राजपुरुषों में युद्ध के समय में भी चौका लगा कर रसोई बना के खाना अवश्य पराजय का हेतु है? किन्तु क्षत्रिय लोगों का युद्ध में एक हाथ से रोटी खाते, जल पीते जाना और दूसरे हाथ से शत्रुओं को घोड़े, हाथी, रथ पर चढ़ वा पैदल हो के मारते जाना, अपना विजय करना ही आचार और पराजित होना अनाचार है।”

स.प्र.समु.10, पृ. 200

“देखो! महाभारत युद्ध में सब लोग लड़ाई में सवारियों पर खाते-पीते थे!” स.प्र.समु.10, पृ. 221

“आवश्यक युद्धादिकर्मों में तो घोड़े आदि यानों पर बैठे वा खड़े-खड़े भी खाना अत्यन्त उचित है।”

स.प्र.समु.10, पृ. 224

पशुहिंसा और अहिंसा पर किए गए प्रश्न-उत्तर को भी देखिए-

प्रश्न-जो सभी अहिंसक हो जाएं तो व्याघ्रादि पशु इतने बढ़ जाएं कि सब गाय आदि पशुओं को मार खाएं।

उत्तर-यह राजपुरुषों का काम है कि जो हानिकारक पशु वा मनुष्य हों उनको दण्ड देवें और प्राण भी वियुक्त कर दें। स.प्र.समु.10, पृ. 222

प्रश्न-पशुओं को मार के होम करने से यजमान और पशु को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।

उत्तर-घोड़े, गाय आदि पशु तथा मनुष्य मार के होम करना कहीं नहीं लिखा।... जो स्वर्ग जाते हों तो ऐसी बात लिखने वाले को मार, होमकर, स्वर्ग में पहुंचाना चाहिए या उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि को मार, होम कर स्वर्ग क्यों नहीं पहुंचाते? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जलाते?

स.प्र.समु.11 पृ. 235, 236

“पशु मार के होम करना वेद में कहीं नहीं है।” स.प्र.समु.12, पृ. 233

महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में लिखते हैं-

“जो न्याय से राज्य का पालन करता है, वही क्षत्रियों का ‘अश्वमेध’ कहाता है। किन्तु घोड़े को मारके उसके अंगों का होम करना, यह अश्वमेध नहीं है।

जिस देश में युद्ध को चाहने वाला, निर्भय, शस्त्र-अस्त्र चलाने में अति चतुर और जिसका रथ पृथिवी, समुद्र और अन्तरिक्ष में जाने वाला

हो, ऐसा राजा होता है, वहां भय और दुःख नहीं होते।”

ऋ.भा.भू., राजा प्रजा., पृष्ठ 272 महर्षि अहिंसा मूलक शान्ति तो चाहते हैं परन्तु राष्ट्र रक्षा एवं शत्रु के विनाश के लिए सभी प्रकार से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित रहने के लिए भी कहते हैं। जैसा कि अग्रलिखित मन्त्र से विदित है-

स्थिराः वः सन्त्वायुधा पराणुदेवीडू उत प्रतिष्कभे।

युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः।।

ऋ. 1/39/2

हे राजपुरुषो! तुम्हारे आयुध अर्थात् आग्नेयास्त्र, ‘शतघ्नी’ तोप, ‘भुशुण्डी’ बन्दूक, धनुष-बाण आदि, ‘असि’ तलवार आदि शस्त्र शत्रुओं को पराजय करने और रोकने के लिए प्रशंसित और दृढ़ हों। तुम्हारी सेना प्रशंसनीय होवे कि जिससे तुम सदा विजयी हो, परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप काम करता है, उसके लिए पूर्व चीजें न हों। उपर्युक्त प्रमाणों से विदित होता

है कि-

यदि महर्षि दयानन्द के दाहिने हाथ में अहिंसा है तो बाएं हाथ में अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा के निर्देश! आखिर शक्ति का सन्तुलन भी तो तभी रह सकता है। एक हाथ में शास्त्र है तो दूसरे हाथ में शस्त्र। वस्तुतः महर्षि दयानन्द महर्षि परशुराम के साक्षात् अवतार प्रतीत हो रहे हैं। क्योंकि परशुराम में दोनों गुण थे-ब्राह्मण के भी और क्षत्रिय के भी-

अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरो धनुः।

इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रादपि शरादपि।।

आगे अर्थात् सम्मुख चारों वेद हैं, पीछे शस्त्र हैं। यह ब्रह्मत्व के रूप में शास्त्र हैं और क्षत्रियत्व के रूप में शस्त्र हैं।

राष्ट्र की रक्षा, आत्मोन्नति एवं विकास के लिए शस्त्र और शास्त्र का कैसा सुन्दर समन्वय है? क्या कहीं अन्यत्र ऐसा सटीक उदाहरण सुलभ है?

### पृष्ठ 2 का शेष-धर्मशास्त्र और मानव-धर्म

मानव-समुदाय के लिये व्यवहार किया जाय। मानव के मस्तिष्क को सुसंस्कृत रूप से विकसित करने के लिए धर्मशास्त्रों के मानवीय पक्षों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। विश्व के प्रत्येक धर्म के मनीषिपुरुषों को आज जीवन के निर्माण के लिए, मानवधर्म की स्थापना के लिए, एकता और भ्रातृत्व को प्रचारित करने के लिए धर्मशास्त्र को पुनर्मूल्यांकित करना होगा। धर्मशास्त्र सर्वदा धर्म का उद्घोषक है, मात्र इसके व्यावहारिक उपक्रमों को मानव-जीवन में ढालना होगा। केवल इसी परिस्थिति में धर्मशास्त्र मानवधर्म को जीवित रखने में सहायक बन सकता है। मानवधर्म की रक्षा पुराणकार इस उक्ति के क्रम में करते हैं-

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।।

“सुनो, समस्त धर्म का तत्त्व इतना ही है कि जो अपने को प्रतिकूल लगे, अच्छा न लगे उसका दूसरों के प्रति भी आचरण न करो।”

यह धर्म किसी एक सम्प्रदाय अथवा एक उपासनाविधि के लिए नहीं है। यह मानव-आत्मा द्वारा की गई सतत-स्पृहमान परम्परा की चेष्टा है। मानव-धर्म को स्थिरता प्रदान करने के लिए ही धर्मशास्त्रों का विकास हुआ है। धर्मशास्त्र का मौखिक बोध ही मानव-जाति का

कल्याण है। जो धर्मशास्त्र मानवजाति की एकता, संगठन और स्नेह के सूत्र को विच्छिन्न करता है, उसे इसकी श्रेणी में रखना भी गर्हित कर्म होगा। मानवधर्म तो ऋत की अर्चना है। धर्मशास्त्र तो दैनिक विश्वास की क्रियात्मक व्याख्या है। अतः सभी बिन्दुओं पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट होता है कि मनु, याज्ञवल्क्य, जैमिनि, पराशर, व्यास आदि ने जिन अनुभूतियों की व्यवस्था दी है, उन्हें मानवधर्म की प्रथा में जोड़ना ठीक नहीं होगा। मानवधर्म तो समस्त विश्व के मानव के लिए एक रीति और एक नीति की क्रमबद्धता है। विभिन्न प्राकृतिक परिवेशों में रहने के बाद भी मानव अपनी मूल प्रकृति से एक है। इसलिए धर्मशास्त्र और मानव-धर्म परस्पर सम्बन्धित हैं। दोनों का उद्गम एक ही है। मात्र संज्ञा का स्पष्टीकरण ही भिन्न-भिन्न है। महाभारत का यह वाक्य-

“नहि मनुष्यात् परतरं हि किञ्चित्।।”

मनुष्य से बढ़कर कुछ नहीं है। अब यह निश्चित रूप से कहा जाता है कि मानवधर्म की भूमिका तो धर्मशास्त्र से भी श्रेष्ठतर है। दोनों ही पक्षों का महत्त्व अलग है। धर्मशास्त्र सापेक्ष है तो मानवधर्म निरपेक्ष रूप से सम्बन्धित है। धर्मशास्त्र क्रियान्वयि अभिधर्म है और मानवधर्म तो अनुभूतिजन्य अभिज्ञान है। दोनों का उद्देश्य समान है।

## वेदाणी

## हम अनृण हों

अनृणा अस्मिन्नृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम ।  
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेमा ॥  
-अथर्व० ६।११७।३

ऋषि-कौशिकः ॥ देवता-अग्निः ॥ छन्दः-त्रिष्टुप् ॥

विनय-मनुष्य तो जन्म से ही कुछ ऊँचे ऋणों से बँधा हुआ है। मनुष्य उत्पन्न होते ही ऋणी है और उन वास्तविक ऋणों से मुक्त होना ही मनुष्य-जीवन की इतिकर्तव्यता है। मनुष्य ने संसार के तीनों लोकों को भोगने के लिए जो तीन शरीर पाये हैं, उसी से वह तीन प्रकार से ऋणी है। हे प्रभो! हम चाहे पितृयाण मार्ग के यात्री हों या देवयान के, हम इन तीन लोकों की अनृणता करते ही रहें। हम अपनी सब शक्ति और सब यत्न इन ऋणों को उतारने में ही व्यय करते हुए जीवन बिताएँ। इस स्थूल भूलोक का ऋण अन्यो को भौतिक सुख देने से, तथा समाज को कोई अपने से श्रेष्ठतर भौतिक सन्तान दे जाने से उतरता है। इसी प्रकार मनुष्यों को जगत् की प्राकृतिक अग्नि आदि शक्तियों से तथा साथी मनुष्यों की निःस्वार्थ सेवाओं से जो सुख निरन्तर मिल रहा है उसके ऋण को उतारने के लिए, इन यज्ञ-चक्रों को जारी रखने के निमित्त उसे यज्ञकर्म करना भी आवश्यक है और तीसरे ज्ञान के लोक से मनुष्य को जो ज्ञान का परम लाभ हो रहा है, उसकी सन्तति भी चालू रखने के लिए स्वयं विद्या का स्वाध्याय और प्रवचन करके उससे उसे अनृण होना चाहिए। जो त्यागी लोग सांसारिक भोग की कामना नहीं करते अतएव जिन्हें ये तीन ऋण इस प्रकार नहीं बाँधते, उन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा के मार्ग से चलने वाले देवयान के यात्रियों को भी अपने तीनों शरीरों के उपयोग लेने का ऋण चुकता करना चाहिए, अर्थात् अपने भौतिक शरीर से वे बेशक सन्तान उत्पन्न करना आदि न करें पर शरीर द्वारा सेवा के अन्य स्थूल कर्म उन्हें करने ही चाहिए; और अपने प्राण व मन के दूसरे शरीर से प्रेम, दया आदि की धाराएँ बहानी चाहिए; तथा द्युलोक-सम्बन्धी तीसरे विज्ञानमय शरीर द्वारा ज्ञान-सूर्य बनकर ज्ञान की किरणें प्रसारित करते हुए तीसरे लोक में भी अनृण होना चाहिए।

अहो! मनुष्य तो सर्वदा ऋणों से लदा हुआ है! जो जीव इस त्रिविध शरीर को पाकर भी अपने को ऋणबद्ध अनुभव नहीं करता वह कितना अज्ञानी है! हमें तो, हे स्वामिन्! ऐसी बुद्धि और शक्ति दो कि हम चाहे देवयानी हों या पितृयानी, हम सब लोकों में रहते हुए, सब मार्गों पर चलते हुए, लगातार अनृण होते जाएँ। अगले लोक में पहुँचने से पहले पूर्वलोक के ऋण हम अवश्य पूरे कर दें। अगले मार्ग पर जाते हुए पिछले मार्ग के ऋण उतार चुके हों। इस प्रकार लगातार घोर यत्न करते हुए हम सदा, सब लोकों में अनृण होकर ही रहें।

तदेजति तत्रैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

-यजु० ४०.५

भावार्थ-वह परमात्मा अज्ञानी मूर्खों की दृष्टि से चलता है, वास्तव में वह सब जगत् को चला रहा है, आप कूटस्थ निर्विकार अटल होने से कभी स्व स्वरूप से चलायमान नहीं होता। जो अज्ञानी पुरुष, परमेश्वर की आज्ञा के विरुद्ध हैं, वे इधर-उधर भटकते हुए भी उसको नहीं जानते। जो विवेकी पुरुष ईश्वर की वैदिक आज्ञा के अनुसार अपने जीवन को बनाते, सदा वेदों का और वेदानुकूल उपनिषदादिकों का विचार करते, उत्तम महात्माओं का सत्संग और उनकी परमपूर्वक सेवा करते हैं, वे अपने आत्मा में अति समीप ब्रह्म को प्राप्त होकर, सदा आनन्द में रहते हैं। परमात्मदेव को सब जगत् के अन्दर बाहिर व्यापक सर्वज्ञ सर्वन्तर्यामी जानकर कभी कोई पाप न करते हुए, उस प्रभु के ध्यान से अपने जन्म को सफल करना चाहिए।

## "वेदज्ञान ही सर्वोपरि है"

ले०-जगदीश चन्द्र वसु

दैनिक जागरण समाचार-पत्र में यह सूचना पढ़ने को मिली कि हरियाणा के मुख्यमन्त्री मान्य श्री मनोहर लाल जी अब दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय गीता महोत्सव लन्दन में मनाया जायेगा, इस महोत्सव का आयोजन "जीयो गीता और गीता शोध संस्थान" के संचालक गीता मनीषी स्वामी ज्ञानानन्द जी महाराज की देखरेख में किया जायेगा।

मैं श्रद्धेय श्री स्वामी जी महाराज से निवेदन करना चाहूंगा कि वह गीता महोत्सव के साथ-साथ ईश्वरीय ज्ञान वेद महोत्सव का भी आयोजन कर ईश्वरीय ज्ञानवेद के महत्त्व को भी जन-जन तक पहुंचाने का प्रयास करें, क्योंकि वैदिक संस्कृति ही सनातन संस्कृति है "सा प्रथमा संस्कृति विश्ववारा" वेद ही सत्य सनातन वैदिक ग्रन्थ है जो सतयुग, त्रेतायुग, द्वापर एवं कलियुग में मानव मात्र का मार्ग प्रशस्त्रकर कर रहा है, जबकि भगवद्गीता महाभारत काल की देन हैं जिसको आरम्भ हुये 5 हजार। सौ पचपन वर्ष हुये हैं परन्तु वेद ज्ञान तो सृष्टि के आरम्भ से ही चला आ रहा है। जिसको चले हुये। [1 अरब, 96 करोड़, 08 लाख, 53 हजार, 119 वर्ष] [1, 96, 08, 53, 119 वर्ष] व्यतीत हुये हैं।

जब परमात्मा ने इस सृष्टि को बना दिया तो, अनन्त प्रकार के अणु-पदार्थों का निर्माण हुआ, अर्थात् जल, वायु, पृथ्वी, आकाश, अग्नि, सूर्य चन्द्र नक्षत्र तारागण, समुद्र, पहाड़, पशु, पक्षी, लोक-लोकान्तर, फल-फूल, पौधे, बनस्पतियां, दिन रात आदि-आदि मनुष्यों के उपयोगी समस्त साधन उपस्थित कर दिये।

तत्पश्चात् परम-पिता परमात्म ने अनगिनत-स्त्री-पुरुषों एवं ऋषि-महर्षियों को अपने-अपने गुण-कर्म-स्वमाचानुसार इक्षत्र शक्ति से उत्पन्न किया। जब परमात्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि को बना दिया तो उनको व्यवहारिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ी-तभी परमात्मा ने उत्पन्न हुये अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक ऋषियों के हृदयों में चित्र में क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान दिया अथवा प्रकाशित किया, जिसमें सब मनुष्य को वैयक्तिक, पारवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्व विषयक आदि सब कर्तव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सके और उसके द्वारा वे सुख-शान्ति तथा आनन्द-मोक्ष प्राप्त कर सकें, अपने अमूल्य जीवन को सफल बना सकें।

"तस्माद्यज्ञात् सर्वं हुत ऋचः सामानी जज्ञिरे" यजुर्वेद। अर्थात्-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद छन्दाऽसि" अर्थात्-अथर्ववेद उत्पन्न हुये। इन्हीं चारों वेदों के आधार को लेकर ही आर्य समाज के संस्थापक-महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सर्व प्रथम, महाभारत के पश्चात् सर्व प्रथम घोषणा की थी कि-आर्यावर्त देश वासियों? वेदों की और लौटो? और वेद पढ़ो, वेद की शिक्षाओं को अपने जीवन में धारण करो। जीवन की सम्पूर्ण समस्याओं का समाधान केवल वेदों के ज्ञान-उपचरण से होगा "नान्यपन्था विद्यतेऽयनाय" अलमिती विस्त रेण

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥

-यजु० ४०.६

भावार्थ-जो विद्वान् पुरुष, सब प्राणी अप्राणी जगत् को परमात्मा के आश्रित देखता है और सब प्रकृति आदि पदार्थों में परमात्मा को जानता है। ऐसे विद्वान् महापुरुषों के हृदय में कोई संशय नहीं रहता।

इस मन्त्र का दूसरा अर्थ ऐसा होता है कि जो, विद्वान् पुरुष सब प्राणियों को अपने आत्मा में और अपने आत्मा को सब प्राणियों में देखता है वह किसी से घृणा वा किसी की निन्दा नहीं करता, अर्थात् वह सबका हितेच्छु शुभचिन्तक बन जाता है।